1

वास्तु-शास्त्रीय सिद्धान्तों का वैदिक आधार

युगल किशोर मिश्र

कोई भी शास्त्र मानव की भौतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अस्तित्व में आता है। वास्तु-शास्त्र जो शिल्प एवं स्थापत्य का मूल शास्त्र है, उसका शुल्बशास्त्र या ज्यामिति से गहरा सम्बन्ध है क्योंकि भू-मापन एवं रेखा-चित्रण का भवन-निर्माण में प्रमुख योगदान होता है। अतएव **कात्यायन शुल्बसूत्र** में कहा गया है—

शास्त्रबुद्ध्या विभागज्ञः परशास्त्रकुतूहलः।
शिल्पिभ्यः स्थपतिभ्यश्च आददीत मतीः सदा॥

वेदांगों में *कल्प* के अन्तर्गत *शुल्बसूत्रों* का समावेश है। *शुल्ब* का अर्थ है—डोरी या रस्सी। *शुल्ब* धातु का अर्थ है—मापना या नापना। डोरी की सहायता से वेदी, चिति, मण्डप, भूखण्ड, भवन आदि निर्माण हेतु मापने या रेखांकन की विधि जिन ग्रन्थों में दी गई है वे *शुल्बसूत्र* कहलाते हैं। *शुल्बसूत्रों* में यज्ञकर्म के लिये आवश्यक विभिन्न आकार-प्रकार की वेदियों, अग्निचितियों के निर्माण-प्रकार, ईंटों के आकार एवं उनकी रचना सम्बन्धी विवरण तथा निर्माण प्रकार दिये गये हैं। इनका सम्बन्ध *क्षेत्रमिति* या *ज्यामिति* से है जिनके नियम *शुल्बसूत्रों* में दिये गये हैं।

शुल्बसूत्रों का समय काणे, काशीकर, रामगोपाल जैसे विद्वान् 800-400 ई0पू0 के मध्य मानते हैं। कीथ, एग्लिंग प्रभृति विद्वान् **कात्यायन शुल्बसूत्र** को 300 ई.पू. की रचना मानते हैं। *शुल्बसूत्रों* में जो *ज्यामिति* उपलब्ध है वह कम से कम 2500 साल पुरानी तो है ही लेकिन बोधायन और आपस्तम्ब आदि आचार्यों ने यह दावा कदापि नहीं किया है कि वेदि-निर्माण के लिये जिस *ज्यामिति* का वे सिद्धान्त बतला रहे हैं उसके सिद्धान्तों या नियमों की खोज स्वयं उन्होंने की है। जब कभी वे किसी प्रस्थापना का वर्णन करते हैं तो विनम्रभाव से कहते हैं—*इति अभ्युपदिशन्ति, इति विज्ञायते, इत्युक्तम्* आदि। ऐसा कहते समय वे **तैत्तिरीय-संहिता** या **ब्राह्मण** या उसके **आरण्यक** का उद्धरण भी प्रस्तुत करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वैदिककाल में भी *शुल्बसूत्रों* में वर्णित *ज्यामिति* का अस्तित्व था तथा भवन, यज्ञशालादि निर्माण में इसका उपयोग होता था।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त होने वाला *ज्यामिति* शब्द यूनानी *ज्यामिट्री* शब्द से न केवल ध्वनिसाम्य अपितु अर्थसाम्य भी रखता है, जिसका तात्पर्यार्थ है—ज्या = पृथ्वी और मिति = मापना। मराठी में इसके लिये *भूमिति* शब्द का प्रयोग होता है। *रेखागणित* शब्द अधिक पुराना नहीं है। सवाई राजा जयसिंह द्वितीय के दरबारी ज्योतिषी पं0 जगन्नाथ ने 1718 ई. में यूक्लिड के मूलतत्त्वों का संस्कृत में अनुवाद किया तो उसे *रेखागणित* का नाम दिया। प्रसिद्ध विद्वान् पं0 बापूदेव शास्त्री ने *क्षेत्रमिति* शब्द चलाया। उनके पहले के भारतीय गणितज्ञों ने ज्यामिति के अर्थ में *क्षेत्र-समास, क्षेत्र-व्यवहार* और *क्षेत्र-गणित* जैसे शब्दों का प्रयोग किया है।

ज्यामिति का प्राचीन भारतीय नाम 'शुल्ब' ही है। **मानव** और **मैत्रायणी** *शुल्बसूत्रों* में इसे *शुल्ब-विज्ञान* कहा गया है। ज्यामितिज्ञ को शुल्बविद् कहा जाता था। उस समय ज्यामिति को *रज्जु* भी कहा जाता था। अतएव **कात्यायन शुल्बसूत्र** का पहला सूत्र है—*रज्जुसमासं वक्ष्यामः*। *रज्जु* शब्द रेखा और फीता अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। पालि साहित्य में राजा के भूमिसर्वेक्षक के लिये *रज्जुक* और *रज्जु-ग्राहक* शब्दों का प्रयोग हुआ है। *रज्जुक* शब्द का उल्लेख सम्राट् अशोक के अभिलेखों में भी मिलता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में ज्यामितिज्ञ के लिये अन्य शब्द हैं—*संख्याज्ञ, परिमाणज्ञ, सूत्रधार, सूत्रग्राही, शुल्ब-परिपृच्छज्ञ* और *समसूत्र निरञ्चक* (समान रस्सी फैलाने वाला) आदि।

एक यूनानी उल्लेख के अनुसार प्राचीन मिस्र के ज्यामितिकार अथवा भूमि सर्वेक्षक *हार्पेडोनाप्टाई* कहलाते थे। इस शब्द का अर्थ है—रस्सी फैलाने वाला। स्पष्ट है कि *हार्पेडोनाप्टाई* और *समसूत्रनिरञ्चक* शब्द समानार्थक हैं जो भवन, यज्ञशालादि निर्माण-कार्य से जुड़े शिल्पियों के संकेतक हैं।

वास्तु पदार्थ एवं उसकी वेदमूलकता

आचार्य यास्क के अनुसार *वास्तु* शब्द निवासार्थक *वस्* धातु से बनता है।[1] फलतः *वसन्ति प्राणिनों यत्र* इस व्युत्पत्ति के अनुसार *वास्तु* शब्द का अर्थ—गृह अथवा गृहकरणयोग्य भूमि है। **शतपथब्राह्मण** में *दर्शपूर्णमासेष्टि* के *स्विष्टकृद्याग* के प्रसंग में *वास्तु* शब्द आया है। वहाँ इसका अर्थ यज्ञशाला या यज्ञभूमि है।[2] *स्विष्टकृद्याग* के प्रसंग में एक आख्यायिका का भी वर्णन **शतपथब्राह्मण** में है जिसमें रुद्र को *वास्तव्य* कहा गया है। आख्यायिका इस प्रकार है—देवगण, यज्ञ रूपी साधन से द्युलोक (स्वर्ग) जाने में सफल हो गये किन्तु पश्वभिमानी देवता रुद्र *यज्ञवास्तु* (यज्ञभूमि) में ही रह जाने के कारण द्युलोक पहुँच न सके। वास्तु (यज्ञभूमि या वेदी) में स्थित रह जाने से रुद्र 'वास्तव्य' नाम से प्रसिद्ध हो गये। रुद्र ने विचार किया कि देवताओं ने मुझे त्यक्त कर दिया तथा यज्ञ से वंचित कर दिया, अतः वे क्रुद्ध होकर यज्ञ के स्विष्टकृदाहुति काल में उत्तर दिशा की ओर से यज्ञ में प्रतिरोध करने हेतु उपस्थित हो गये। तब देवताओं ने रुद्र से यज्ञ में गड़बड़ी न करने की प्रार्थना की। रुद्र ने देवताओं से स्वयं को यज्ञ से बहिर्भूत न करने एवं अपने लिये आहुति देने का वचन मांगा। इसे देवताओं ने स्वीकार कर लिया तब रुद्र ने भी यज्ञ में कोई विघ्न नहीं किया। यतः देवगण आहुति देकर यज्ञ समाप्त कर चुके थे, अतः उन्होंने आपस में विचार किया कि आहुति से बचा हुआ जो थोड़ा सा भाग है उसी में से रुद्र के लिये आहुति दी जाय। उन्होंने अपने *अध्वर्यु* को निर्देश दिया कि बचे हुए आहुति-शेष का पुनः घृत से अभिघारण कीजिये जिससे उसका बासीपन हट जाय तथा फिर से छोटे-छोटे टुकड़े कर देवताओं को आहूत कीजिये तथा उससे रुद्र के लिये भी आहुति दीजिये। देव-अध्वर्यु ने इसी प्रकार किया। परिशेष (टुकड़े) भाग को 'वास्तु' कहते हैं तथा परिशेष भाग (वास्तु) के अधिकारी होने के कारण रुद्र *वास्तव्य* कहलाते हैं।[3]

उपर्युक्त आख्यायिका से दो तथ्य सामने आते हैं। एक तो यह कि—किसी बृहद् वस्तु के खण्ड का कई खण्डों में यथोचित बाँटने की कला या क्रिया *वास्तु* है तथा दूसरा यह कि वास्तु के अधिपति (*वास्तव्य*) रुद्र हैं।

वेद में वास्तु के अधिपति के रूप में *वास्तोष्पति* संज्ञा का प्रयोग है। निरुक्त के अनुसार *वास्तोष्पति* मध्यम स्थानीय देवता हैं। *वास्तोष्पति* पद का अर्थ है—वास्तु अर्थात् गृह का रक्षक या पालक देव।[4]

मत्स्यपुराण के अनुसार प्राचीनकाल में अन्धकासुर के वध के समय भगवान् शिव के ललाट से पृथ्वी पर जो स्वेदबिन्दु गिरे उससे एक भयंकर आकृतिवाला पुरुष प्रकट हुआ जो विकराल मुख फैलाये था। उसने अन्धकगणों का रक्तपान

किया, किन्तु तब भी उसे तृप्ति नहीं हुई और वह भूख से व्याकुल होकर त्रिलोक की तरफ बढ़ा। इससे भयभीत देवताओं ने उसे पृथ्वी पर सुलाकर *वास्तुदेवता* के रूप में प्रतिष्ठित किया और उसके शरीर में सभी देवताओं ने वास किया। इसलिये वह *वास्तु* (वास्तुपुरुष) के नाम से प्रसिद्ध हो गया। देवताओं ने उसे वरदान दिया कि पृथ्वी पर सभी मनुष्य तुम्हारी पूजा करेंगे। अतएव प्रासाद, भवन, कूप, वापी, गृह, मन्दिर आदि के निर्माण व जीर्णोद्धार तथा यज्ञमण्डपादि निर्माण में वास्तुपुरुष की पूजा-अर्चना की जाती है।

गृह-निर्माण की आवश्यकता एवं वास्तु-कर्म का महत्त्व

गृह-निर्माण मानव के लिये आवश्यक है क्योंकि *गृहा वै प्रतिष्ठा* इस श्रुति वचन के अनुसार मानवीय प्रतिष्ठा का आधार *गृह* बताया गया है। अन्यत्र कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना घर होना चाहिये क्योंकि इसके बिना व्यक्ति के *श्रौत-स्मार्त* कर्म पूर्णफल नहीं होते। यदि यज्ञादि कार्य किसी दूसरे की भूमि या घर में किये जांय तो वे पूर्ण सिद्ध नहीं होते क्योंकि भूमीश (भूमि का स्वामी) उन क्रियाओं का फल प्राप्त कर लेता है—

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्ध्यन्ति गृहं विना।
यतस्तमाद् गृहारम्भ-प्रवेश-समयौ ब्रुवे॥
परगेहे कृताः सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
न सिद्ध्यन्ति यतस्तस्माद् भूमीशः फलमश्नुते॥

गृहादि निर्माण कार्य में वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण को अवश्य ध्यान में रखना चाहिये क्योंकि इससे समस्त दोषों का निराकरण होकर शुभ-प्रवृत्तियों का आगमन एवं वर्धन होता है। शास्त्र का वचन है कि—

प्रासाद-भवनोद्यानप्रारंभे परिवर्तने।
पुरवेश्मप्रवेशेषु सर्वदोषापनुत्तये॥

वास्तुशास्त्र की परम्परा

प्रायः सभी प्रामाणिक शास्त्रों का मूल वेद है। **कात्यायन चरणव्यूह** ग्रन्थ के अनुसार *स्थापत्य* **अथर्ववेद** के उपवेद के रूप में प्रतिष्ठित है। वेदों से वास्तुशास्त्र के तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का अन्वेषण कर सर्वप्रथम महर्षि गर्ग ने वास्तु-शास्त्र की रचना की जिसे उन्होंने महर्षि पराशर को उपदिष्ट किया। महर्षि पराशर से बृहद्रथ ने तथा बृहद्रथ से भगवान् विश्वकर्मा ने वास्तु-शास्त्र को प्राप्त किया। भगवान् विश्वकर्मा ने प्राणियों के हित के लिये इस पृथ्वी पर वासुदेवादि श्रेष्ठजनों को वास्तु-शास्त्र का उपदेश दिया जैसा कि इस श्लोक से स्पष्ट है—

गर्गात्पराशरः प्राप्तस्तस्मात्प्राप्तो बृहद्रथः।
बृहद्रथाद् विश्वकर्मा प्राप्तवान् वास्तुशास्त्रकम्॥
स विश्वकर्मा जगतो हितायाकथयत् पुनः।
वासुदेवादिषु पुनर्भूलोके भक्तितोऽब्रवीत्॥

वास्तु-शास्त्र की वैज्ञानिकता

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नौ द्रव्यों—पृथिवी, अप् (जल), तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इनसे ओतप्रोत

है। इनमें पञ्चमहाभूतों का मानव के निर्माण में स्पष्ट योगदान प्रतिभासित है जबकि काल, दिक्, आत्मा और मन का योगदान किञ्चित् सूक्ष्मतया अवभासित है। इन नौ द्रव्यों से निर्मित विराट् प्राकृतिक वातावरण का मानवीय जीवन के साथ सामंजस्य स्थापित करना तथा अधिकाधिक लाभकारी शुभ तत्त्वों का दोहन करना *वास्तुशास्त्र* का लक्ष्य है।

प्रकृति अपार शक्ति का केन्द्र है तथा ऋषियों द्वारा उपदिष्ट शास्त्र-विधानों के द्वारा मानव अनन्त शक्ति को उससे प्राप्त कर सकता है। पञ्चमहाभूतों के विषय में न्याय-वैशेषिक दर्शन में महत्त्वपूर्ण तथ्य विवेचित किये गये हैं, जिनका परिज्ञान आवश्यक है। इसका अतिसंक्षिप्त निदर्शन इस प्रकार है—

पंचमहाभूत	सामान्य गुण	विशेष गुण
पृथ्वी	शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध	गन्ध
जल	शब्द, स्पर्श, रूप, रस	शीतल स्पर्श
तेज	शब्द, स्पर्श, रूप	उष्ण स्पर्श
वायु	शब्द, स्पर्श	रूपरहित स्पर्श
आकाश	शब्द	शब्द

उपर्युक्त न्याय-वैशेषिक दर्शन के विवेचनानुसार पृथ्वी में सर्वाधिक पाँच कलायें हैं। अतः वास्तुशास्त्र में पृथ्वी को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानकर उसे केन्द्र में रखा गया है तथा अन्य महाभूतों को उनकी कलाओं या गुणों के अनुपात में स्वीकार किया गया है।

जैसा कि सर्वविदित है पृथ्वी की महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं—

(1) गुरुत्व शक्ति,

(2) चुम्बकीय शक्ति

पृथ्वी की गुरुत्व शक्ति के कारण गतिशीलता तथा चुम्बकीय शक्ति के कारण अपने अक्ष एवं कक्षा में भ्रमण होता है जिसके फलस्वरूप दिन-रात्रि की व्यवस्था, ऋतु परिवर्तन आदि होते हैं। अतः वास्तु-शास्त्र में पृथ्वी की इन शक्तियों के समुचित-ग्रहण पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

जल-तत्त्व जीवन का पर्याय है अतएव वास्तु-शास्त्र में जनसन्निवेश एवं भवन-निर्माण में जल की सदा प्राप्ति एवं उचित विकास की व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

तेजस् (अग्नि) तत्त्व प्रकाश, ताप एवं ऊर्जा का संचार करता है। तेजस्—तत्त्व का प्रमुख स्रोत सूर्य है। अतः वास्तुशास्त्र में तेजस् (सूर्य/अग्नि) तत्त्व का समुचित आगमन एवं उसके उपयोग पर विचार करते हुए भवन के द्वार खिड़की, पाकशाला आदि के समुचित स्थान का निर्धारण किया जाता है।

वायु-तत्त्व जीवन के लिये अनिवार्य एवं अपरिहार्य है। शरीर में स्थित प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान संज्ञक पाँच वायु शरीर का संचालन करते हैं जिसके कारण नाड़ी, हृदय आदि स्पन्दित होते हैं। भवन-निर्माण में इस दृष्टि से गम्भीर विचार किया जाता है कि शुद्ध वायु की प्राप्ति हो। अतएव भवन की ऊँचाई, आँगन, द्वार, रोशनदान, खिड़की, पेड़-पौधे लगाने आदि विषय वास्तुशास्त्र में विवेचित किये जाते हैं।

आकाश-तत्त्व भी एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। आकाश में ही सारी क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। चलना, उठना-बैठना, सुनना, बोलना, नृत्य, वाद्य आदि आकाश के बिना संभव नहीं हैं। अतः भवन-निर्माण में आकाश-तत्त्व की दृष्टि से भी विचार किया जाता है।

भवन-निर्माण के वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्त

(क) वास्तुशास्त्र के अनुसार भवन-निर्माण हेतु ऐसी भूमि का चयन किया जाना चाहिये जो समतल हो, पोली न होकर ठोस हो तथा आस-पास की जमीन से थोड़ी सी ऊँची हो ताकि बरसाती पानी वहाँ इकट्ठा न हो सके। इस सन्दर्भ में वास्तुशास्त्र का निर्देश है कि भूमि-खनन करते समय यदि भूमि में दीमक, अजगर, हड्डी, राख, खप्पर, गला लोहा आदि मिले तो वहाँ भवन नहीं बनाना चाहिये क्योंकि ये चीजें इस बात की संकेतक है कि भूमि ठोस नहीं अपितु पोली है। जहाँ भूमि ठोस है वहाँ गुरुत्व शक्ति के प्रभाववश निर्माण किये गये भवन भी सुदृढ़ एवं स्थायी होते हैं। वेदांग कल्पशास्त्रान्तर्गत **कात्यायन-श्रौतसूत्र** में यज्ञीयवेदि निर्माण के प्रसंग में स्पष्ट निर्देश है कि—यागशाला, मण्डप एवं वेदी निर्माण के लिये ऐसी भूमि का चयन किया जाना चाहिये जो थोड़ी उच्च हो, समतल हो तथा ठोस हो।[5] इस प्रकार वेदांग के इस निर्देश को वास्तुविद्या में यथावत् ग्रहण किया गया है।

(ख) श्रौतसूत्र का यह निर्देश है कि यज्ञ मंडप के लिये ऐसी भूमि का चयन करना चाहिये जो पूर्व की ओर ढलान वाली (प्राक्प्रवण) या उत्तर की ओर ढलान वाली (उदक्प्रवण) हो।[6] वास्तुशास्त्रकारों ने वैदिक श्रौतसूत्रों के इस सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त का वैज्ञानिक पक्ष यह है कि पूरा ब्रह्माण्ड चुम्बकीय शक्ति से युक्त एवं प्रभावित है। दो चुम्बकों के विजातीय ध्रुवों में आकर्षण तथा सजातीय ध्रुवों में विकर्षण होता है। अतएव स्मृतिकार दक्षिण की ओर सिरहाना करके शयन का विधान करते हैं ताकि रक्तसंचार सही ढंग से हो तथा अनिद्रा, सिरदर्द आदि रोग न हो पाये। वास्तुशास्त्र में भी भवन के उत्तर की ओर अधिक खुली जगह छोड़ना, उत्तर की ओर खिड़की, दरवाजे एवं वातायन रखने, उत्तर की ओर ढलान रखने, उत्तर की ओर भवन की ऊँचाई कम रखना, उत्तर में ऊँचे पेड़ न रखना आदि के विधान बताये गये हैं जो चुम्बकीय शक्ति के सदुपयोग की दृष्टि से आवश्यक हैं तथा वेदप्रतिपादित हैं।

(ग) सूर्य मानव के लिये तथा पृथ्वी के लिये ऊर्जा का मुख्य स्रोत है। विज्ञान की दृष्टि से सौर ऊर्जा की किरणें तीन प्रकार की हैं—

(i) पराबैंगनी किरणें,

(ii) वर्णक्रम प्रकाश,

(iii) रक्ताभ किरणें।

इनमें से पराबैंगनी किरणें शीतल होती हैं तथा सूर्योदय के प्रातःकालीन प्रकाश में सर्वाधिक रहती है। इन किरणों में शरीर के लिये पोषक-तत्त्व होते हैं तथा रात्रि के प्रदूषण, विषाणुओं एवं रोगाणुओं की नाशक शक्ति होती हैं।

प्रातःकाल के बाद सूर्य जैसे-जैसे ऊपर चढ़ता है त्यों-त्यों सूर्य की धूप में रक्ताभ (इन्फ्रारेड) किरणों की मात्रा बढ़ती जाती है तथा धूप में गर्मी भी बढ़ती जाती है। रक्ताभ किरणों के ग्रीष्म एवं तीखेपन के कारण ये असहनीय होती हैं और इनसे बचाव करना आवश्यक हो जाता है। वेदों में इसी विज्ञान सम्मत दृष्टि को निर्दिष्ट करते हुए यज्ञशाला भूमि में प्राक्प्रवणता का विधान किया तथा पूर्व की ओर खुला स्थान छोड़ने का निर्देश दिया गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वैदिक यागों में

जहाँ आहवनीयाग्नि के परिग्रह का विधान है वहाँ दक्षिण-पश्चिम एवं उत्तर दिशा में परिधि-निधान का विधान है किन्तु पूर्व दिशा को खुला छोड़ा जाता है तथा वहाँ परिधि-निधान नहीं किया जाता। यह स्पष्ट संकेतक है कि पूर्व की ओर से आने वाली सूर्य की पराबैंगनी किरणों को बेरोक-टोक आने दिया जाय तथा उसमें किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होना चाहिये। वास्तुशास्त्र में भी वेद के इस सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार किया गया है तथा सूर्य की किरणों के गुण-धर्मों को जानते हुए भवन में आँगन, ब्रह्मस्थान एवं पूर्व में अधिक भाग छोड़ने, पूर्व में द्वार रखने, गवाक्ष रखने, खिड़कियाँ रखने, बरामदा बनाने, पूर्व की ओर ऊँची दीवार, ऊँचे पेड़ न रखने, पश्चिम में कम जगह छोड़ने, पश्चिम में ऊँचे पेड़ लगाने आदि का विधान किया गया है जो वेदानुमोदित है।

वेदानुमोदित भवन-निर्माण (वास्तुशास्त्र) के आधारभूत सिद्धान्त

1. भवन-निर्माण के लिये भूमि ठोस, चिकनी मिट्टी वाली, अपेक्षाकृत थोड़ी ऊँची एवं समतल होनी चाहिये।
2. जो भूमि उर्वरा हो तथा पेड़-पौधे जहाँ तेजी से बढ़ते हों वह भवन-निर्माण के लिये प्रशस्त भूमि है।
3. जो स्थान देखने में सुन्दर लगे तथा जहाँ जाकर मन प्रसन्न हो जाय—वह स्थान या भूमि, भवन-निर्माण के लिये प्रशस्त है।
4. भूखण्ड का आकार—वर्गाकार, आयताकार, भद्रासन एवं वृत्ताकार सभी भवनों के लिये शुभद होता है। षड्भुजाकार एवं अष्टभुजाकार भूखण्ड भी ठीक होता है।
5. गोमुखी भूखण्ड आवास के लिये शुभ होता है किन्तु सिंहमुखी नहीं।
6. त्रिभुजाकार, विषमबाहु, अर्धवृत्ताकार, अंडाकार, कूर्मपृष्ठाकार आदि भूखण्ड अशुभ होते हैं।
7. भूखण्ड की लम्बाई उत्तर-दक्षिण की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम में अधिक हो तो शुभ होती है।
8. भूखण्ड का ढलान पूर्व एवं उत्तर की ओर होना शुभ है, पश्चिम और दक्षिण की ओर नहीं।
9. आस-पास के धरातल से भूखण्ड का ऊँचा होना शुभ है किन्तु नीचा होना (पानी भरने वाला) अशुभ होता है।
10. भवन-निर्माण में भूखण्ड पर पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में तथा दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में अधिक खाली जगह छोड़नी चाहिये।
11. भूखण्ड के पश्चिम एवं दक्षिण में ऊँची दीवार, ऊँचे पेड़ आदि शुभ होते हैं उत्तर एवं पूर्व में नहीं।
12. आवासीय भवन का द्वार पूर्व या उत्तर में रखना श्रेष्ठ होता है। पश्चिम में द्वार सामान्य तथा दक्षिण द्वार ठीक नहीं होता। द्वार के सामने द्वार नहीं रखना चाहिए।
13. पूजाघर के लिए ईशान कोण श्रेष्ठ होता है। उसे पूर्व या उत्तर में भी बनाया जा सकता है।
14. रसोई घर आग्नेयकोण में श्रेष्ठ होता है। आग्नेय के पास दक्षिण एवं पूर्व में भी वह बनाया जा सकता है।
15. शयनकक्ष दक्षिण में श्रेष्ठ है। आग्नेय, ईशान एवं पूर्व को छोड़कर उसे कहीं भी बनाया जा सकता है।
16. अध्ययन-कक्ष, वायव्य, उत्तर एवं पूर्व में शुभ हैं।
17. बैठक या ड्राइंगरूम पूर्व एवं आग्नेय के बीच में, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर एवं वायव्य में शुभ हैं।

18. भण्डारगृह (स्टोर-रूम) वायव्य में बनाना शुभ है।
19. मकान के बीच आंगन श्रेष्ठ है। इसकी ढलान पूर्व या उत्तर की ओर शुभ होती है।
20. आवास में दक्षिण एवं नैर्ऋत्य के बीच में, उत्तर या ईशान के बीच में या पूर्व में कार्यालय (ऑफिस) बनाया जा सकता है।
21. पोर्टिको, ईशान, पूर्व, उत्तर या पश्चिम में बनाना ठीक है।
22. जेनरेटर, बिजली के मेनबोर्ड, इनवर्टर आदि आग्नेय एवं उसके आस-पास या दक्षिण में शुभ है।
23. छत के ऊपर पानी की टंकी दक्षिण या पश्चिम में रखनी चाहिये। पूर्व, उत्तर एवं ईशान में कदापि नहीं।
24. भवन से जल एवं मल की निकासी, सीवेज, मोरी आदि वायव्य, पूर्व एवं उत्तर में होनी चाहिये।
25. सभी दरवाजे खिड़कियाँ समान ऊँचाई में होने चाहिये।
26. पूर्व निर्मित भवन में विस्तार या निर्माण कार्य चारों ओर या उत्तर पूर्व की ओर करना श्रेष्ठ है।
27. आफिस में गृहपति के बैठने की व्यवस्था ऐसी रहनी चाहिए कि उसका मुख पूर्व या उत्तर की ओर रहे।

वेदानुमोदित वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से गृह-निर्माण में उपर्युक्त बिन्दुओं का ध्यान रखना चाहिये। यदि अपरिहार्य कारणों से इनमें से कतिपय बातों का समायोजन या व्यवस्थापन संभव न हो सके तो वास्तु-शान्ति करा के दोषों का शमन कराना चाहिये। शास्त्र का वचन है कि—

यथा बाणप्रहाराणां कवचं वारणं भवेत्।
तद्वद्दैवोपघातानां शान्तिर्भवति वारिका॥ इति शम्।

संदर्भ

1. वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः (निरुक्त 10/2/9) गृहकरणयोग्यभूमिः।
2. यज्ञेन वै देवाः दिवमुपोदक्रामन्नथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे स इहाहीयत तस्माद्वास्तव्य इत्याहुर्वास्तौ हि तदहीयत (शतपथब्राह्मण 1/6/7/1)
3. यथापूर्वं हवींष्यभ्यघारयदेकस्मा अवदानाय पुनराप्याययदयातयामान्यकरोत्तत एकैकमवदानमवाद्यत्तस्माद्वास्तव्य इत्याहुर्वास्तु हि तद्यज्ञस्य यद्धुतेषु हविष्षु। (शतपथब्राह्मण 1/7/1/3)
4. वास्तुः गृहं तस्य पाता पालयिता वा (निरुक्त 10/2/9)
   वास्तोर्गृहक्षेत्रस्य पतिरधिष्ठाता अथवा वास्त्वन्तरिक्षं तस्य पतिः पाता विभुत्वेन, 'इन्द्रः' इत्यमरः।
5. उच्चतमं सममविभ्रंशि (कात्यायन श्रौतसूत्र 7/1)
6. पूर्वप्लवो वृद्धिकरो धनदश्चोत्तरप्लवः।
   दक्षिण्यो मृत्युदो वास्तुर्द्धनहा पश्चिमप्लवः।।